पाठ्य-पुस्तकः
नागरिक-शास्त्र कक्षा 6, 7, 8 व 10
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान परिषद द्वारा प्रकाशित

नागरिक-शास्त्र की पुस्तकों में नागरिकों की छवि...

● अमन मदन

यह समीक्षा क्या करेगी

इस समीक्षा का उद्देश्य यह पहचानना है कि एन.सी.ई.आर.टी. की नागरिक-शास्त्र की पाठ्य-पुस्तकों में और सुधार कैसे लाया जा सकता है?

मेरे विषय हैं मानव-शास्त्र और समाज-शास्त्र, अतः मैं इन विषयों के दृष्टिकोण से ही यह समीक्षा कर रहा हूं। पाठ्य-पुस्तकों में यदा-कदा ऐसे अंश मिल सकते हैं जो मेरी व्याख्या को गलत साबित करते हों, पर मेरा विश्वास है कि इन पुस्तकों में सामान्यतः पाई जाने वाली प्रवृत्तियों को ही मैंने यहां निरूपित किया है।

यह समीक्षा क्या नहीं करेगी

मैं छोटी-मोटी तथ्यात्मक त्रुटियों और छपाई की गलतियों की ओर ध्यान नहीं खींचूंगा। केवल सामान्य प्रवृत्तियों की ही चर्चा करूंगा।

इस समीक्षा में मैं एन. सी. ई. आर. टी. और समीक्षित पुस्तकों के लेखकों को वो विस्तृत प्रशंसा नहीं दे पाऊंगा जिसके वे पात्र हैं। यह अनुचित ज़रूर है, पर सर्वप्रथम तो उन बातों की सूची जिसके लिए उन्हें साधुवाद देना ज़रूरी है मेरी आलोचनाओं की सूची से कहीं ज़्यादा लंबी होगी। मेरे लेख के पाठक

अंग्रेज़ों के प्रस्थान के बाद भारत द्वारा एक स्वतंत्र और प्रगतिशील समाज के निर्माण की दिशा में उठाए गए कदमों में से एक बहुत अहम कदम रहा है - एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा नए पाठ्यक्रमों और पाठ्य-पुस्तकों के विकास का प्रयास।

यह ध्यान रखें कि अंग्रेज़ों के प्रस्थान के बाद भारत द्वारा एक स्वतंत्र और प्रगतिशील समाज के निर्माण की दिशा में उठाए गए कदमों में से एक बहुत अहम कदम रहा है - एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा नए पाठ्यक्रमों और पाठ्य-पुस्तकों के विकास का प्रयास। मेरे सुझावों का उद्देश्य सिर्फ इस प्रयास को सकारात्मक विवेचना के माध्यम से और मज़बूत बनाना है।

मानव-शास्त्री होने के नाते मुझे यह देखना चाहिए था कि देश के विभिन्न भागों में ये किताबें कक्षाओं के भीतर किस रूप में समझी जाती हैं। आखिर पाठ्य-पुस्तकें शून्य में तो अपना अस्तित्व नहीं रखतीं। वे सचमुच के लोगों द्वारा इस्तेमाल की जाती हैं और पाठकों पर उनका क्या असर पड़ता है यह लोगों की अपनी अस्मिता और उनके समाज के स्वरूप से निर्धारित होता है। इस प्रकार का अध्ययन करने में कम-से-कम तीन साल लगेंगे। अतः प्रस्तुत समीक्षा मेरी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं और बच्चों की प्रतिक्रियाओं के बारे में मेरे अपने अनुमानों पर आधारित है।

'राज्य' से आसक्ति

इन पाठ्य-पुस्तकों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानों इनके लिए 'राज्य' (शासन) का अध्ययन नागरिक-शास्त्र का पूर्ण पर्याय है। यह सच है कि 'राज्य' की गतिविधियां लोगों के जीवन के बहुतेरे पक्षों को छूने लगी हैं, पर भारत की युवा पीढ़ी के लिए छोटे-बड़े व्यापारियों, किसानों, कारीगरों के बारे में सीखना भी कम ज़रूरी तो नहीं है। राज्य के साथ व्यवहार की तुलना में शायद लोगों का कहीं ज़्यादा व्यवहार इस प्रकार के

" इन पाठ्य-पुस्तकों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानों इनके लिए 'राज्य' (शासन) का अध्ययन नागरिक-शास्त्र का पूर्ण पर्याय है। यह सच है कि 'राज्य' की गतिविधियां लोगों के जीवन के बहुतेरे पक्षों को छूने लगी हैं, पर भारत की युवा पीढ़ी के लिए छोटे-बड़े व्यापारियों, किसानों, कारीगरों के बारे में सीखना भी कम ज़रूरी तो नहीं है। "

नागरिक-शास्त्र के द्वारा यह भी उभारना चाहिए कि हमें हर बात के लिए राज्य या अन्य किसी बाहरी संस्था का मुंह ताकते रहने की ज़रूरत नहीं है। लोग अपनी समस्याओं का हल खुद भी निकाल सकते हैं।

और लोगों और उनके संगठनों के साथ रोज़ ही होता है। फिर भी राज्य के तत्वावधान में तैयार की गईं ये पाठ्य-पुस्तकें लोगों के जीवन के इन पहलुओं को हाशिए में डाल देती हैं। एक नागरिक के सार्वजनिक जीवन की जटिलताओं से हटकर नागरिक-शास्त्र का अभिप्राय राज्य की अगुआई से की जाने वाली गतिविधियों की चर्चा तक सिमटकर रह जाता है।

नागरिक-शास्त्र के एक संतुलित परिप्रेक्ष्य के लिए यह ज़रूरी लगता है कि पाठ्य-पुस्तकों में ऐसे उदाहरणों को भी स्थान दिया जाए जिनमें राज्य के हस्तक्षेप के बिना भी कुछ महत्वपूर्ण काम हुए हों। ऐसे कई उदाहरण आज सबकी नज़र में हैं, जैसे नशा-प्रवृत्ति के उन्मूलन और अपने गांव की अर्थ-व्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए महाराष्ट्र में अण्णा हज़ारे द्वारा किए गए प्रयासों का वर्णन बच्चों की चर्चा के लिए उत्तम रहेगा। इसी तरह का एक और उदाहरण है हिमाचल प्रदेश की सुखोमाजरी परियोजना का - जिसमें गांववासियों ने सूने पहाड़ों पर जंगल लगाकर उन्हें फिर से हरा किया और उन नए जंगलों की देख-रेख का दायित्व संभालने की प्रणाली बनाई। आंध्र-प्रदेश की औरतों का देशी-शराब के खिलाफ चलाया अभियान भी बहुत प्रेरणास्पद है। दूसरी तरफ, टाटा-परिवार द्वारा एक औद्योगिक नगरी के विकास के प्रयास का उदाहरण भी है। कुल मिलाकर नागरिक-शास्त्र के द्वारा यह भी उभारना चाहिए कि हमें हर बात के लिए राज्य या अन्य किसी बाहरी संस्था का मुंह ताकते रहने की ज़रूरत नहीं है। लोग अपनी समस्याओं का हल खुद भी निकाल सकते हैं।

कोरे आदर्शों से आसक्ति क्यों ?

नागरिक-शास्त्र की इन पाठ्य-पुस्तकों का निहित उद्देश्य जागरूक और ज़िम्मेदार नागरिकों का विकास है। उत्तम कोटि की किताबें वे होती हैं जो पाठक को खुद सोचने के लिए प्रेरित करें और उनके दैनिक जीवन को भी प्रेरित कर सकें। समीक्षित पाठ्य-पुस्तकों में छात्रों को सोचने के लिए व स्वयं कुछ करने के लिए कई अभ्यास व प्रश्न डाले गए हैं। हर एक-दो पन्ने में एक छोटे चौखाने में इस तरह के प्रश्न दिए गए हैं:

"तुम्हारे क्षेत्र में सबसे अधिक लोकप्रिय कुटीर-उद्योग कौन-सा है? गांव के लोगों को इससे क्या लाभ है?"
(कक्षा-6, पृष्ठ 11)

इस तरह के प्रयास के बावजूद पुस्तकों में कई अन्य बातें हैं जो एक सक्रिय और

जागरूक मस्तिष्क के विकास में सहायक नहीं होती हैं।

एक जागरूक मस्तिष्क किसी भी जानकारी को कई बिन्दुओं से परखता और देखता है और तब स्वीकार करता है। यह विज्ञान का आधार है। साथ ही यह भी जरूरी है कि लोग अपनी मान्यताओं को बार-बार वस्तुस्थिति के आधार पर जांचना सीखें। समीक्षित पाठ्य-पुस्तकें इन बातों को प्रोत्साहित करती नहीं लगतीं। इस दृष्टि से इनमें बहुत सुधार किए जाने की गुंजाइश है। इनमें तर्क-वितर्क के पुट को बढ़ाने की जरूरत है।

जैसे, यह सच है कि जनतंत्र का आदर्श नए भारत के निर्माण का आधार-स्तंभ है। जनतंत्र जैसे आदर्श को पाठ्य-पुस्तकों में इस समझ से प्रस्तुत किया गया है कि मानों इन्हें अच्छा नहीं मानने या स्वीकार नहीं करने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यानी जनतंत्र, समाजवाद, धर्म-निरपेक्षता तो अपने-आप में उत्तम व अनुकरणीय आदर्श हैं। लेकिन यहां इन विचारों का कोरा सिद्धांतवादी प्रस्तुतिकरण किया गया है। जनतंत्र की सबसे विस्तृत चर्चा कक्षा -10 की पुस्तक में है पर यहां भी इसके पक्ष-विपक्ष के विचार-विमर्श से बचने की कोशिश की गई है। जनतांत्रिक और अधिनायकवादी शासन की तुलना करते हुए यह बताया गया है कि अधिनायकवादी शासन-प्रणाली में राजनैतिक समता, स्वतंत्रता और लोगों के प्रति उत्तरदायित्व के सिद्धांतों को नहीं माना जाता है, पर इससे जनतंत्र की वास्तविक जरूरत तो प्रमाणित नहीं होती। बेहतर होता यदि इस बात के तर्क उभारे जाते कि जनतांत्रिक शासन से सब लोगों का हित कैसे साधा जा सकता है।

यह भी प्रयास किया जा सकता है कि बच्चे जानकारी एकत्रित करें कि जिन देशों में जनतांत्रिक माहौल रहा वहां क्या परिणाम निकले हैं और जहां यह माहौल नहीं रहा वहां क्या हुआ है। जनतंत्र का अनुभव लेने के लिए छात्र-संगठन बनाने की प्रक्रिया भी की जा सकती है। यानी वास्तविक अनुभवों और तर्क-वितर्कों के जरिए सीखना अर्थपूर्ण होता है - न कि पाठ्य-पुस्तक की सत्ता को निष्क्रिय भाव से स्वीकारते हुए उसमें कही बातों को मान लेना।

समीक्षित पुस्तकों में जमीनी वास्तविकताओं के अच्छे-बुरे अनुभवों की

जनतंत्र, समाजवाद, धर्म-निरपेक्षता तो अपने-आप में उत्तम व अनुकरणीय आदर्श हैं। लेकिन यहां इन विचारों का कोरा सिद्धांतवादी प्रस्तुतिकरण किया गया है। जनतंत्र की सबसे विस्तृत चर्चा कक्षा-10 की पुस्तक में है पर यहां भी इसके पक्ष-विपक्ष के विचार-विमर्श से बचने की कोशिश की गई है।

विवेचना को बढ़ावा देने की कोशिश न होते हुए तथ्यों और आदर्शों को एक-तरफा ढंग से थोपने की कोशिश की गई लगती है।

शहरी सभ्यता से आसक्ति

नागरिक-शास्त्र की इन पाठ्य-पुस्तकों में ग्रामीण-विरोधी झुकाव देखा जा सकता है। यह बड़ी चिंता की बात लगती है कि बच्चों के लिए पुस्तकें प्रकाशित करने वाले देश के प्रतिष्ठित प्रकाशक ग्रामीण भारत की रूढ़िवादी छवि को ही उभारते हैं और गांवों को निम्नस्तरीय जगह के रूप में दर्शाते हैं। यह देखने के लिए कि इन पुस्तकों में दी गई विचार-धारा का हमारी नई पीढ़ी के दिमाग पर क्या असर पड़ रहा है, कुछ एक उदाहरण देना उचित रहेगा। कक्षा-6 की नागरिक शास्त्र की पुस्तक में पेज-7 पर लिखा है :

"अधिकतर गांव बिना किसी योजना के बसे हैं। खेती ग्रामवासियों का मुख्य व्यवसाय है इसलिए गांव में रहने वालों में अधिकतर किसान होते हैं। किसानों के अलावा गांव में कुम्हार, बढ़ई, लुहार, धुनिया, नाई आदि भी रहते हैं। अधिकतर ग्रामवासियों के मकान मिट्टी के बने होते हैं और उन पर फूस के छप्पर होते हैं। इन मकानों में एक या दो कमरे होते हैं। इनमें गुसलखाने आदि की व्यवस्था नहीं होती। अधिकतर गांववाले पशु पालना पसंद करते हैं। गांव वालों का रहन-सहन सादा होता है।"

बहुत से भारतीय शहर और कस्बे भी अनियोजित ढंग से बने हुए हैं किन्तु संपूर्ण पुस्तक में केवल गांवों को ही 'अनियोजित' होने की उपाधि दी गई है। गांव की एक अति-सरलीकृत छवि ही सामने रखी गई है - गांव यानी छप्पर वाले मकान। कम-से-कम पंजाब, हरियाणा तथा उत्तर-प्रदेश के विद्यार्थी ये पढ़कर हैरान होंगे कि वे मिट्टी के बने पारंपरिक मकानों में रहते हैं जिन पर छप्पर पड़ा होता है। इन प्रदेशों में सामान्यतः मकान ईंटों के बने होते हैं जिनकी छतें पक्की होती हैं।

विशेष रूप से यह कहना कि गांववासियों के पास शौचादि की उचित व्यवस्था नहीं है, कहीं चोट पहुंचाता है। एक सामान्य शहरी को ज़रूर नित्य-कर्म के लिए खेतों की ओर रुख करने का विचार घिनौना लगता है। लेकिन शहरी शौचालयों को किस तरह से बेहतर या ठीक कहा जा सकता है जहां न सिर्फ पानी ही बर्बाद होता है बल्कि घरों का गंदा पानी भी पास की नदी में बहा दिया जाता है? कक्षा -10 की

बहुत से भारतीय शहर और कस्बे भी अनियोजित ढंग से बने हुए हैं किन्तु संपूर्ण पुस्तक में केवल गांवों को ही 'अनियोजित' होने की उपाधि दी गई है। गांव की एक अति-सरलीकृत छवि ही सामने रखी गई है - गांव यानी छप्पर वाले मकान।

नागरिक-शास्त्र की पुस्तक (अंग्रेज़ी संस्करण) में पेज नंबर 98-99 में गांवों को न खत्म होने वाली समस्याओं का घर बताया गया है जिसमें केवल स्वतंत्रता के बाद कुछ प्रगति हुई है:

"गांवों में ऐसे निवासी हैं जिनके मस्तिष्क स्थिर एवं रूढ़िवादी हैं।"

शहर में रहने वालों पर इस प्रकार की टीका-टिप्पणी आपको कहीं नहीं मिलेगी। इन पुस्तकों में शहरी औद्योगिक समाज की मान्यताओं और प्रतीकों को ग्राम्य-जीवन की मान्यताओं से बेहतर व प्रगतिशील बताया गया है।

ग्रामीण समाज से आने वाले बच्चे अपनी ज़िन्दगी के बारे में क्या सीखेंगे अतिरिक्त इसके कि उनका जीवन निम्नस्तरीय है तथा उन्हें आगे बढ़ने के लिए कदम-कदम पर शहरों का मुंह ताकना होगा? दूसरी ओर शहरी बच्चे गांवों के लिए ऐंठ-भरा और उच्च रवैया अपना लेते हैं। इस तरह वे खुद को गांव से आए विद्यार्थियों से ऊंचा समझते हैं। कुछ ऐसा ही रवैया अनुसूचित जनजातियों के लिए भी अपनाया जाता है। आठवीं कक्षा की पुस्तक में पेज संख्या 42-43 (अंग्रेज़ी संस्करण) पर अनुसूचित जन-जातियों को गरीब व अशिक्षित बताया गया है और लिखा है कि यही उनका अनुचित लाभ उठाए जाने का कारण है। जनजातियों की कठिनाइयों का निदान और उनके अंधविश्वासों का इलाज देखा गया है वैज्ञानिक दृष्टिकोण और शहरी ढंग की शिक्षा प्रणाली में - मानो 'वैज्ञानिकता' और 'नगरीयता' समस्याओं से परे हैं। इस बात का कोई ज़िक्र नहीं है कि शहरी समाज में जिस प्रकार का शोषण पाया जाता है, वैसा जनजातीय संस्कृतियों में देखने को नहीं मिलता। जनजातीय संस्कृतियां स्वयं बहुत उत्तम मूल्यों से संपन्न हैं- इस समझ की झलक नहीं मिल पाती और न ही इस समझ की कि किसी एक समाज के वैचारिक ढांचे के अनुसार किसी दूसरे समाज को जानना कितना समस्यामूलक हो सकता है। इन सब बातों के चलते पाठ्य-पुस्तक में जनजातियों के प्रति लगातार एक कृपाभाव-भरा रवैया झलकता रहता है।

पृष्ठ 44 (अंग्रेज़ी संस्करण) में के बारे में लिखा छोटा-सा गद्यांश इस मुद्दे को अच्छे से उजागर करता है। अगर हम यह देखें कि इस अंश में किन बातों पर ज़ोर दिया गया है और किन पर नहीं तो हम पाएंगे कि गद्यांश का 68 प्रतिशत हिस्सा यानी

शहर में रहने वालों पर इस प्रकार की टीका-टिप्पणी आपको कहीं नहीं मिलेगी। इन पुस्तकों में शहरी औद्योगिक समाज की मान्यताओं और प्रतीकों को ग्राम्य-जीवन की मान्यताओं से बेहतर व प्रगतिशील बताया गया है।

ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे सहारिया लोग रंग-बिरंगे, नाचते-गाते, अजूबे हैं जिन्हें शरीर पर गुदना गुदवाने जैसी विचित्र बातों से बेहद लगाव है। वे मानो वास्तविकता में जीते-जूझते लोग न होकर किसी और ही दुनिया के मज़ेदार प्राणी हों।

22 में से 15 पंक्तियां, कला, संगीत और गहनों के प्रति सहारिया लोगों के प्रगाढ़ प्रेम के बारे में हैं। एक जगह यह लिखा है कि सहारिया लोगों की मान्यता है कि जब इन्सान मरने के बाद दूसरे लोक को जाता है तो अपने साथ बस एक गहना ले जाता है – और वह है उसके शरीर पर गोदी गई आकृतियां। क्या यही बातें सहारिया लोगों के जीवन की सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बातें हैं? सहारियों के गैर-औद्योगिक जीवन की कार्य-संस्कृति बड़े उद्योगों की असेंबली लाईन पर काम कर रहे मज़दूरों की कार्य-संस्कृति से कैसे फर्क है, इस तरह के मुद्दों को छुआ तक नहीं गया है। न ही इस मुद्दे को उठाया है कि सहारिया लोग अपने समाज में नियम और न्याय का प्रचलन कैसे सुनिश्चित करते हैं ... बाहरी लोगों द्वारा उनके शोषण के बारे में एक शब्द भी नहीं है।

ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे सहारिया लोग रंग-बिरंगे, नाचते-गाते, अजूबे हैं जिन्हें शरीर पर गुदना गुदवाने जैसी विचित्र बातों से बेहद लगाव है। वे मानो वास्तविकता में जीते-जूझते लोग न होकर किसी और ही दुनिया के मज़ेदार प्राणी हों - वैसे ही विचित्र प्राणी जो अक्सर हमें दूरदर्शन पर वी.आई.पी. लोगों के सामने नाचते हुए देखने को मिलते रहते हैं। इस तरह पाठ्य-पुस्तकों के विश्व-दर्शन में जनजातियां हाशिए में सिमटकर रह गई लगती हैं।

अब वह समय आ गया है जब अपने देश के भविष्य की चर्चाओं में हम स्कूलों और उनकी पाठ्य-पुस्तकों को मुख्य स्थान दिलाएं। अपने देश में बहुत तेज़ी से बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं; पर आने वाली पीढ़ी के मन-मस्तिष्क को प्रभावित करने वाली और आकार देने वाली बातों पर बहुत कम ध्यान दिया जा रहा है।

जन सामान्य के लिए एम. टी. वी. की विवेचना करना ज़्यादा रोचक और आकर्षक है - और तुलना में स्कूलों की स्थिति पर विचार-विमर्श करने में रुचि कम है। पर एम.टी.वी. की तुलना में स्कूलों में घटित बातों का, हमारे समाज के विकास पर ज़्यादा असर पड़ने वाला है। आज की दुनिया का निर्माण, विरोधी विचार-धाराओं के संघर्ष के दरमियान हो रहा है। पालकों, शिक्षकों और छात्रों को भी इन बातों से अवगत होना चाहिए। विचार-धाराओं के संघर्षों से अनभिज्ञ रहने का मतलब यह होगा कि हम औरों को हमारे भविष्य को आकार देने की खुली छूट दे रहे हैं।

लेखक जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के समाज-शास्त्र विभाग में शोधरत हैं।